साहित्य, सिनेमा और समाज

डॉ. सचिन कुमार

हिन्दी विभाग,

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

हिन्दी साहित्य और सिनेमा की बात की जाए तो दोनों में काफी घनिष्ठता है । वैसे तो हिन्दी में सबसे ज्यादा फिल्में उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की रचनाओं पर बनी हैं, इसका कारण यह भी नहीं है कि जब मुम्बई में बोलती हुई फिल्मों का दौर शुरू हुआ, तब प्रेमचंद ने खुद मुम्बई फिल्म जगत की ओर रूख किया था । वहाँ उनको सफलता भी नहीं मिली। सरस्वती प्रेस को घाटे के चलते 'साप्ताहिक जागरण' को दो साल बाद ही बंद करना पड़ा था । प्रेमचंद को 1934 ई. में मोहन भावनानी की कंपनी अजंता सिनेटोन की ओर से आठ हजार रूपये वार्षिक का अच्छा अनुबंध प्राप्त हुआ और वे मुम्बई पहुँच गए । मोहन भावनानीने प्रेमचंद की कहानी पर 'मजदूर' फिल्म बनाई । फिल्म के लिए कई नाम सामने आए जिनमें 'सेठ की बेटी' और 'मिल' । इस फिल्म में प्रेमचंद का क्रांतिकारी रूख इतना असरदार था कि फिल्म सेंसर बोर्ड के हत्थे चढ़ गई। क्योंकि इस फिल्म में श्रमिक अशांति का खतरा पाया गया । अतः इस पर मुम्बई, पंजाब, लाहौर, दिल्ली सभी जगह रोक लगती गई। क्योंकि अधिक समाज निरक्षर था और समाज पर फिल्म का असर अधिक पहुँचता था । इसको देखकर तो प्रेमचंद के अपने सरस्वती प्रेस के मजदूर भी जागृत हो गए और श्रमिकों में असंतोष की भावना भड़क उठी ।

नानूभाई वकील ने भी 1934 ई. में प्रेमचंद के उपन्यास 'सेवासदन' पर फिल्म बनाई । इसके चार साल बाद ही 'सेवासदन' पर तमिल में सुब्रमण्यम् ने भी फिल्म बनाई जिसमें सुब्बुलक्ष्मी नायिका बनी । उनके अभिनय और गायन के कारण फिल्म काफी सफल रही । प्रेमचंद का निधन 1936 ई. में

हुआ । उसके बाद ही उनकी कहानी पर 'स्वामी' (त्रियाचरित्र), हीरा-मोती (दो बैलों की कथा), रंगभूमि, गोदान, गबन और आगे जाकर सत्यजीत रे प्रसिद्ध फिल्मकार के निर्देशन में 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सद्गति' जैसी फिल्में बनी । मृणाल सेन प्रेमचंद की 'कफन' कहानी पर तेलगु में 'ओका उरी' कथा जैसी फिल्म बनाई । जब प्रेमचंद की कृतियों पर फिल्म बन रही थी तभी अमृत लाल नागर, सुदर्शन, भगवती चरण वर्मा, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', सेठ गोविन्द दास और चतुरसेन शास्त्री की रचनाओं पर भी फिल्में बनीं । 'चित्रलेखा' भगवती चरण वर्मा के उपन्यास पर दो-दो बार फिल्म बनीं । फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'मारे गए गुलफाम पर' 1966 ई. में बासु भट्टाचार्य ने 'तीसरी कसम' फिल्म बनाई । राजेन्द्र यादव के 'सारा आकाश ' उपन्यास पर 1969 ई. में बासु चटर्जी ने फिल्म बनाई और मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है' पर 1974 ई. में 'रजनीगंधा' फिल्म बनी । यह फिल्मों का सफल दौर था । इस दौर को साहित्य के संदर्भ में मैं हिन्दी फिल्मों का अच्छा दौर महसूस करता हूँ । और कहना चाहता हूँ कि इस दौर में अनेक सफल फिल्में बनकर तैयार हुई जो हिन्दी साहित्य की अपनी देन रही हैं ।

सिनेमा का अस्तित्व दर्शकों के अभाव में कहीं भी संभव नहीं है । हम जब भी आम आदमी की बात करते हैं तो आम आदमी साहित्य से अधिक हमें सिनेमा के करीब दिखाई देता है और यदि हम फिल्म साहित्य और कला दोनों के समन्वय की बात करें तो इससे जनहित को लाभ ही प्राप्त होगा। इतनी कहानियों, उपन्यासों, नाटकों पर फिल्मी जगत में फिल्में बनीं और सफल भी रहीं । इसी शृंखला में भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' पर निर्देशक गोविन्द निहलानी ने फिल्म बनाई । जिसे दूरदर्शन सहित अंतर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सव दिल्ली में भी दिखाया गया । यद्यपि फिल्मांकन से पूर्व भी 'तमस' उपन्यास काफी चर्चा में रहा इसलिए फिल्मांकन के प्रदर्शन के बाद भारत के हर एक कोने में इसके विषय पर

चर्चाएँ होती रहीं । जो 'तमस' साहित्य द्वारा सिर्फ कुछ लोगों को प्रभावित कर पाया वहीं फिल्म के द्वारा जन-जन में अपने को प्रस्तुत कर पाया । 'तमस' की प्रसिद्धि ने सभी को प्रभावित किया । इसी प्रकार साहित्यकार मुंशी प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' पर इसी नाम से 1963 ई. में फिल्म बनी। तत्कालीन जीवन और समाज को इसमें दर्शाने का पूरा प्रयास किया गया । इस फिल्म का मूल्यांकन करते हुए श्रीकांत वर्मा ने लिखा है - ''गोदान का फिल्मीकरण वास्तव में प्रेमचंद को एक श्रद्धांजलि है.... अगर गोदान का कभी संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित हो तो इससे अच्छा संपादन शायद नहीं हो सकता ।''[1] साहित्य और सिनेमा के रिश्ते को जोड़े रखने में दूरदर्शन की बड़ी भूमिका रही । इसमें चंद्रकांता (देवकीनंदन खत्री), राग दरबारी (श्री लाल शुक्ल), कब तक पुकारूं (रांगये राघव) मुझे चाँद चाहिए (सुरेन्द्र वर्मा), नेताजी कहिन (कक्काजी कहिन, मनोहर श्याम जोशी) पर भी धारावाहिक फिल्मांकन हुआ और प्रेमचंद की कहानियों पर तो गुलजार ने काम किया उसी प्रकार आर.के. नारायण के उपन्यास पर बेहद खूबसूरत फिल्म बनी थी । 'गाइड' जिसमें देवानंद और वहीदा रहमान ने अपनी अदाकारी से इस फिल्म में बुद्धिजीवी और सामान्य दर्शकों को समान रूप से आकर्षित किया था । 'उपसार' में जया भादुड़ी के अभिनय को कभी भुलाया जाना संभव नहीं । रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानी 'असहमति' का इतना सुंदर और संवेदनापूर्ण प्रस्तुतीकरण उसमें किया गया है । इसी श्रृंखलामें राजेन्द्र सिंह बेदी की रचना पर बनी 'दस्तक' फिल्म अपने यथार्थ परख दृष्टिकोण के कारण ही अधिक सराही गई थी । संजीव कुमार और रोहना सुल्ताना के प्रभावित करने वाले अभिनय ने इस रचना में चार चांद लगा दिए थे । बेदी जी के ही मशहूर उपन्यास 'एक चादर मैली सी' पर इसी नाम से फिल्म बनी जो काफी प्रभाव छोड़ने वाली फिल्म रही । इस फिल्म में रानो का रोल हेमा मालिनी ने निभाया । पति की मृत्यु के बाद विधवा रानो के जीवन में

अधियारा छा गया था। सास उसे घर से निकालने पर तुली थी। उसका देवर मंगल तांगा चलाता है। उसकी मुलाकात एक बंजारन से हुई। दोनों में प्रेम हुआ और दोनों भविष्य के सपने संजोने लगे। तभी रानो की सहेलियों ने मंगल का उससे ब्याह रचाने का प्रस्ताव रखा। रानो अंदर तक हिल गई। जिसे उसने अपने बेटे की तरह पाला उससे ब्याह? देवर मंगल के लिए भी यह कल्पना असहनीय थी। पर दोनों की एक न चली बिरादरी और पंचायत वालों ने जबरदस्ती दोनों का ब्याह करवा दिया। मंगल के प्यार की दुनिया उजड़ गई। किन्तु रानो ने पहली ही रात मंगल को स्पष्ट कर दिया कि उस पर कोई बंधन नहीं है वह पहले की भाँति ही आजाद जीवन जी सकता है। इन फिल्मों में समाज को एक नयी दिशा दी गई। साहित्यिक रचनाओं पर बनी फिल्में समाज को एक नयी दिशा देती हैं और सोचने पर मजबूर भी करती हैं कि अच्छे विषय समाज पर भी अच्छा प्रभाव छोड़ते हैं। दर्शकों को अच्छे साहित्य की पहचान भी होती हैं।

हिन्दी की साहित्यिक कृतियों पर फिल्में अभी भी बनाई जा रही हैं। किन्तु अधिकांश लेखक अपनी रचनाओं पर बनी फिल्मों से संतुष्ट नहीं हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि फिल्मकार ने उनकी कृति को साथ न्याय नहीं किया है। परन्तु फिल्म और साहित्य दोनों ही भिन्न विधाएँ हैं। किसी कृति में वर्णित चरित्र एवं दृश्य को पढ़ना और उसे परदे पर देखना दोनों बातें अलग हैं। इस फर्क को समझने के लिए सिनेमा और साहित्य के विधागत स्वभाव के अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। जब व्यक्ति कोई उपन्यास पढ़ता है तब उन शब्दों से अपने मन में उस साहित्यिक कृति के चरित्र या दृश्य का बिंब सृजित करता है। उसी उपन्यास पर यदि फिल्म बनती है तब उसी दृश्य का बिम्ब अलग हो सकता है या हो जाता है। फिल्म और साहित्य की भाषा में अंतर बताते हुए विनोद दास ने लिखा है- "साहित्यिक कृति में समूचा चमत्कार शब्दों के भीतर उद्घटित होता है। वहीं फिल्म एक चाक्षुश माध्यम

है जहाँ वस्तु का सीधे साक्षात् होता है यह साक्षात्कार फोटोग्राफी की सहायता से अद्‌वितीय और अनूठा होता है ।"[2] सिनेमा का साहित्य से घनिष्ठ संबंध है । सिनेमा में साहित्य का महत्व बताते हुए विजय अग्रवाल ने लिखा है- "सत्यजीत रे उन फिल्मकारों में थे जिन्होंने साहित्य पर सबसे अधिक फिल्में बनाई । फिल्में अपने समाज के लिए सही भूमिका तभी निर्वाह कर सकेंगी जब वे साहित्य का साथ और साहित्य के संस्कार लेकर चलेंगी ।.... कथानक की वैविधता उसे साहित्य से ही मिल सकती है । ऐसा लगता है निश्चित रुप से भविष्य का सिनेमा साहित्य को चित्रित करने वाला सिनेमा होगा ।"[3] अतः स्पष्ट है कि साहित्य और सिनेमा एक कड़ी के दो पहलू की तरह लगते हैं जिसमें संबंधों का सौहार्दपूर्ण होना आवश्यक है । सिनेमा अपनी सामाजिक भूमिका तभी निभा सकता है जब वह साहित्य का आधार और साहित्य के गुण अथवा संस्कारों को लेकर चलेगा ।

साहित्य और सिनेमा दोनों के विद्‌धानों से यह स्वीकार किया है कि साहित्य के बिना सिनेमा अपनी ऊँचाईयों को नहीं छू सकता था क्योंकि सिनेमा को स्थिर खड़े होने के लिए कहानी रूपी रीढ़ और मजबूत बुनियाद का जरूरत थी जो अच्छी और सार्थकता लिए हुए हो जो उसे नाम और दाम दोनों दे सके। ये उसे साहित्य से ही हासिल हो सकती थी । वहीं दूसरी ओर साहित्य को अपना लक्ष्य पाना था अर्थात् उसे जन-जन में जागृति लानी थी, समाज को उध्‌वगामी दिशा देनी थी और इस काम में सिनेमा ने साहित्य की मदद की । साहित्य सिनेमा के माध्यम से अलमारियों से निकलकर आम आदमी की पहुँच तक जा पहुँचा । जिस रचना को घण्टों बैठकर हम कई दिनों में पढ़ते थे सिनेमा के माध्यम से नृत्य, संगीत और गीत से भरकर, सुंदर वातावरण के द्‌वारा मोहक और रोचक बना कर तीन घंटों में रंगीन पर्दे पर उतार कर एक मिसाल कायम की । चूंकि साहित्य से अधिक सिनेमा समाज के अधिक करीब है तो उसने समाज को अधिक प्रभावित किया । सिनेमा

और हिन्दी साहित्य आज भी एक दूसरे का हाथ पकड़ अपनी-अपनी मंजिल को पाने की पूरी कोशिश कर रहे हैं ताकि दोनों अपने लक्ष्य को पा सकें ।

स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य और सिनेमा का अटूट संबंध है । जहाँ सिनेमा वैज्ञानिक युग की देन है तो वहीं साहित्य हमारी पीढ़ियों, पुरखों की धरोहर है । सिनेमा आधुनिक कला और कैमरे से व्यक्ति और चीजों को चलता हुआ, बोलता हुआ दिखाने में सक्षम रहा तो साहित्य एक ठोस घरातल की तरह उसे मदद करता रहा है । दोनों ने मिलकर इतिहास रचा और जनता को समृद्ध किया। इनके संबंधों में कटुता और मधुरता दोनों रही पर दोनों का उद्देश्य एक था इसलिए दोनों साथ-साथ चल सके । एक ने सार्थकता दी तो दूसरे ने उसे लक्ष्य को प्राप्त करने में मदद की । अगर साहित्य समाज में बदलाव का एक प्रमुख कारण है तो सिनेमा भी कुछ हद तक इस बात के लिए जिम्मेदार है । दोनों ने अपने-अपने तरीके से जिम्मेदारी निभाई और देश के विकास में योगदान दिया । आज के इस मूल्यरहित और मूल्यपतन के युग में अगर सिनेमा और साहित्य साथ मिलकर चलें तो वाकई एक जबरदस्त ताकत के रूप में उभर कर नये युग बोधक का कार्य कर सकते हैं ।

संदर्भ एवं सहायक ग्रंथ

1. सिनेमा और समाज, ले.विजय अग्रवाल, पृ. 45, परिकल्पना प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. अनभै, सं. रतन कुमार पाण्डेय, पृ. 67, सामयिक प्रकाशन, कानपुर उत्तर प्रदेश।
3. सिनेमा और समाज, ले. विजय अग्रवाल, पृ. 60, परिकल्पना प्रकाशन नई दिल्ली।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाऐं एवं समाचार-पत्र।